आचार्यशिरोमणि भगवान श्री कुंदकुंदआचार्यदेव के
आचार्यपदवीदिन मागशर वदि अष्टमी के मंगल अवसर पर
उनके चरणोंमें कोटी कोटी वंदन !!

''मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी
मंगलं कुंदकुंदार्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलं''

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४९: अंक-३००, वर्ष-२४, दिसम्बर-२०२२

श्रावण शुक्ल २, बुधवार, दि. २०-७-१९६६, योगसार पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-९३,९४ प्रवचन-३९

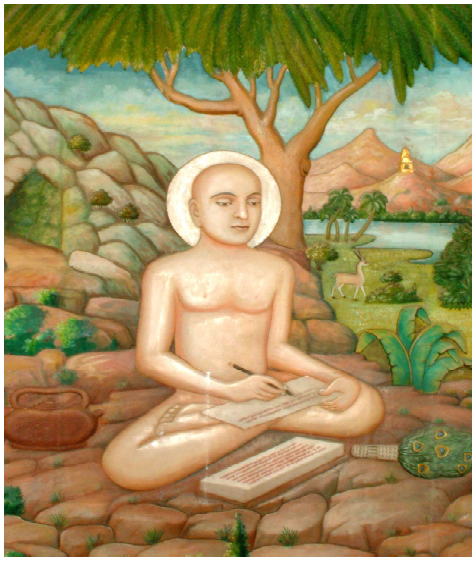

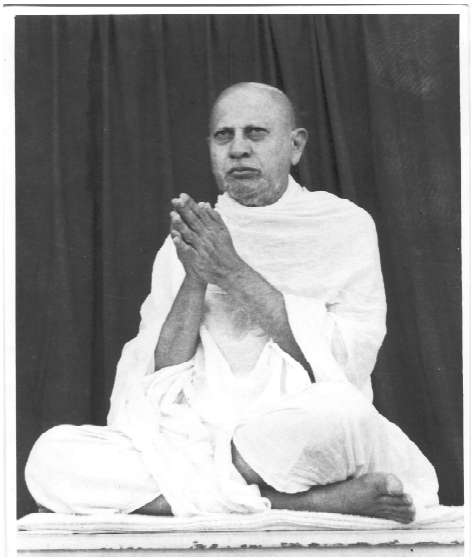

जो कोई निर्वाण का लक्ष्य रखकर समसुख को भोगता हुआ.... निर्वाण - मुक्ति पूर्ण आनन्द की प्राप्ति बिना मैं अतृप्त हूँ, पूर्ण आनन्द की प्राप्ति बिना मैं अतृप्त हूँ - ऐसा धर्मी जानता है। समझ में आया? यहाँ पेट पूरा न भरे, तब तक ऐसा कहते हैं न कि मेरा पेट भरा नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को पूर्ण आनन्द की प्राप्ति नहीं है, तब तक अतृप्त है; इसलिए जिसे पूर्ण आनन्द की छटपटाहट है - ऐसे निर्वाण का लक्ष्य रखकर समसुख को भोगता हुआ आत्मानुभव का अभ्यास करे वह शीघ्र ही निर्वाण की प्राप्ति करेगा। यह गाथा का अर्थ हुआ।

फिर 'समयसार कलश' की बात थोड़ी डाली है। ज्ञानचेतना के अथवा आत्मानुभूति के आनन्दसहित केलि कराना, कर्म करने के प्रपंच से और कर्मफल से निरन्तर विरक्तभाव की सम्यक् प्रकार से भावना भाना। सम्यग्दृष्टि, पुण्य-पाप के परिणाम यह कर्मचेतना है और उसके हर्ष-शोक से उसे भोगना वह कर्मफलचेतना है। उनसे रहित भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध है, उसकी चेतना को नचाये, ज्ञानचेतना को नचाये; कर्म और कर्मफलचेतना को हेय करके छोड़े। समझ में आया?

इसमें पूरा माल पड़ा है, उसके सम्मुख नजर करने का इसे समय नहीं मिलता और जिसमें कुछ नहीं - पुण्य-पाप के विकल्प और निमित्त में कुछ तेरा तत्त्व नहीं, तेरा सत्त्व या तत्त्व उसमें कुछ नहीं, उसमें लगा है और उसी में इसे सर्वस्व लगता है। बस! यह, सब! यह, व्यवहार करो, व्यवहार करो, परन्तु व्यवहार करो अर्थात् अधर्म करो - इसका अर्थ (हुआ)। अरे...! भगवान! क्या कहते हैं? समझ में आया?

अनादिरूढ़ व्यवहार मूढ़ है। (समयसार) ४१३ गाथा में भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है। अनादि के राग को तू व्यवहार कहने जा तो वह तो व्यवहार मूढ.है, निश्चय में अनारूढ़ है। अनादिरूढ़, व्यवहारमूढ, निश्चय में अनारूढ़ - ऐसे तीन शब्द प्रयोग किये हैं। (समयसार) ४१३ गाथा। ४१३ गाथा है न? ४१३ बहुत बार कही गयी है। एक की एक बात बहुत बार (कही गयी है)। वहाँ आगे इसमें से भी विवाद उठा है न! 'यशोविजय' ऐसा कि व्यवहार से धर्म कहता है, वह तो मूढ.है। उन्हें ऐसा लगा कि अरे! हमारे यशोविजय को मूढ.कहते हैं। ऐसा आया था। बाहर से आया था।

४१३ में है, देखो! जो वास्तव में 'श्रमण हूँ, मैं श्रमणोपासक हूँ' व्यवहारलिंग, व्यवहारव्रतादि में मानते हैं वे मिथ्या अहंकार कर रहे हैं, वे अनादिरूढ.(अनादि काल से चले आये) व्यवहार में मूढ,... ज्ञानी हैं, वे व्यवहार में मूढ.नहीं हैं, व्यवहार के ज्ञाता हैं। समझ में आया? जाना हुआ प्रयोजनवान है, यह बारहवीं गाथा है। यह सब एक ही शैली रची है। वस्तु की स्थिति (ऐसी की) निश्चय का भान हुआ, तब राग बाकी रह गया, शुद्धता अल्प है, उसका ज्ञान करना वह व्यवहार है परन्तु ऐसा निश्चय हो तब व्यवहार (कहलाये) न? वरना यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं कि व्यवहारमूढ. है, अकेली मन्दराग की क्रिया को तू धर्म की शुरुआत कहना चाहे और धर्म है (- ऐसा कहे) तो अनादिरूढ. भाव, यह तो अनादि से चला आया है। मन्द-तीव्र.... मन्द-तीव्र.... अनादि का है, उसमें तू मन्द को, व्यवहार करनेवाला जगे बिना उसे व्यवहार कहेगा कौन? अनादिरूढ.व्यवहार में मूढ,.. उसे मूढ. कहा है। ज्ञानी को व्यवहार में मूढ.नहीं कहा, व्यवहार का जाननेवाला कहा है। चैतन्य शुद्ध भगवान आत्मा का भान हुआ, (तब) व्यवहार देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति, पूजा - ऐसा भाव होता है, उसे जानता है, वह मूढ़ नहीं है और यह जो अकेला व्यवहार है, निश्चय के भान बिना, उसे मूढ़ कहा है। क्यों? कि प्रौढ. विवेकवाले निश्चय (निश्चयनय) पर अनारूढ,... राग से, व्यवहार से भिन्न कराकर आत्मा की दृष्टि और आश्रय करना - ऐसा प्रौढ़ निश्चय विवेक अनारूढ़ है। निश्चय में अनारूढ़ है, (वैसे) व्यवहार को व्यवहार का ज्ञान करनेवाला जगे बिना व्यवहार नहीं कहा जाता। ४१३ में ऐसा कहते हैं।

अब यह कहता है अकेला व्यवहार करो, व्यवहार करो - ऐसा बड़ा लेख दिया है। ठीक! (ऐसा लेख है कि) दो मत है परन्तु सच्चा मत किसका? लो, ठीक! सच्चा मत यह 'रतनचन्दजी' का। वे कहते हैं किसी दूसरे का नहीं, अभी के किसी पण्डित का भी नहीं, यह आचार्य इतना कहते हैं उनका भी नहीं, दो मत हैं। एक कहते हैं कि आत्मा में देव है दूसरा कहता है कि भगवान में देव है। तब रतनचन्दजी कहते हैं, भगवान के मन्दिर में दर्शन करने से निद्यत और निकाचित कर्म छूट जाते हैं - ऐसा धवल के पहले भाग में है। ऐसा करके आधार दिया है। अरे...! यह तो आत्मा के दर्शन से (कर्म) टूटे, तब निमित्त से कथन कहा जाता है। वह ऐसा कहते हैं तब परमात्मप्रकाश में कहते हैं कि आत्मा देव, भगवान यहाँ देह में विराजमान हैं, वहाँ देव मानेंगा तो मूढ.है। वह तो व्यवहार स्थापना है। समझ में आया? वह तो शुभभाव का निमित्त है। भगवान देव तो यहाँ विराजमान है। इस देव का तुझे पता नहीं (और) तू जहाँ-तहाँ भटका करे तो मर जाएगा। 'राजा

भिक्षार्थे भ्रमे ऐसी जन की टेव' बड़ा तीन लोक का नाथ जहाँ तहाँ कहे हे भगवान! हे भगवान! मुझे देना। वहाँ है तेरी मुक्ति? संवर-निर्जरा वहाँ उनके पास है? ए...ई...! भगवान तो यहाँ है।

तुम राजुल से पूछते थे, कहाँ है तेरी गीता? यहाँ गीता थी न, गीता से कहे गीता कहाँ है? गीता यह रही - ऐसा कहे। जातिस्मरण हुआ है न, इनके भतीजे की लड़की यहाँ आयी थी तब पूछा था, गीता कहाँ है? पूर्वभव में उसका नाम गीता था। यहाँ जूनाग में लुहाना की लड़की (थी)। गीता कहाँ है (तो कहे) गीता यह रही, गीता यह रही। गीता का आत्मा यह रहा, मैं यह रहा। भगवान कहाँ है? भगवान यहाँ है? बात तो सही करना चाहिए न? मैंने कहा गीता कहाँ है? (तो कहा) यहाँ है। ऐसा बोली थी, हाँ! यहाँ आठ दिन रखी थी, यहाँ चार बार आ गयी है। अभी दो सौ लड़के थे, तब भी बताने के लिए लाये थे। गीता कहाँ है? यह रही। पूर्व भव में तेरा नाम क्या था? गीता! कहाँ से आयी है? जूनाग से आयी हूँ, आ रही हूँ। धीरुभाई! तुमने वह लड़की देखी है या नहीं? नहीं देखी? अभी चार बार आ गयी। आहा...हा...! मनसुखभाई! हमारे मनसुखभाई, शाम को पूछते हैं कि ऐसा होता होगा? परन्तु यह हुआ है न! होता क्या होगा? अकेले पैसे कमाने में मजदूर... मजदूर... मजदूर... बड़े। मलूकचन्दभाई! सच्ची बात होगी? वे शाम को पूछते थे। ऐसा होता होगा? परन्तु यह हुआ है न? होता होगा क्या?

मुमुक्षु - परन्तु यह तो दूसरों को न।

उत्तर - परन्तु दूसरे को हुआ है या नहीं? हैं? पौने छह वर्ष, ढाई वर्ष में बोली, ढाई वर्ष में बोली, मैं जूनागढ.से आयी हूँ, मेरा नाम गीता है, वहाँ मुझे बुखार आया था और मैं मर गयी हूँ, सब बोली थी। स्वयं ही बोली थी परन्तु इन लोगों को विश्वास नहीं आया, दो वर्ष तक विश्वास नहीं आया। फिर यह हिम्मतभाई और सब वहाँ निर्णय कराने गये थे। हमारे हिम्मतभाई ये तो पहले वहाँ तक निर्णय किया कि यहाँ से तुझे लेंगे तो तू तेरी माँ को पहचानेगी? तेरे पिता को पहचानेगी? हाँ। तेरी माँ को पहचानेगी, हाँ! तेरे काका को पहचानेगी? हाँ। तू गीता को पहचानेगी? यह क्या पूछते हो? गीता तो यह रही। वहाँ कहाँ गीता थी? पण्डितजी! ऐसा जबाव दिया। इन पण्डितजी ने जरा हाँ, हाँ (कराने को पूछ लिया)। तेरी माँ को पहचानेगी? तेरे बापू को पहचानेगी? तेरे काका को पहचानेगी? वहाँ गीता को पहचानेगी? गीता को पहचानेगी क्या कहते हो? गीता तो यह रही। ऐसा कहा न? भाई! पौने छह वर्ष में (बोली), ढाई वर्ष में जातिस्मरण भव का हुआ। तुम्हें फुरसत कब (थी)? अभी यहाँ चार दिन आ गये है। आठ-आठ दिन रहकर। वह तो बहुत बार आती है, मनसुखभाई! कभी मुश्किल से आते हैं, किसी कारण, वह तो बहुत बार आती है। मनसुखभाई! यह तो जगजीवनभाई उसके काका होते हैं न! इसलिए फिर आ जाती है। कहो समझ में आया? आहा...हा...! कहते हैं, भाई! प्रत्यक्ष बात है। उसमें कहते हैं, ऐसा होता होगा? परन्तु होता है, यह हुआ है न! समझ में आया?

इसी तरह आत्मा तीनों काल ऐसा का ऐसा भगवान तेरे समीप में विराजमान है अर्थात् कि तू स्वयं है। अरे! तुझे देखने का अवसर तुझे नहीं, भगवान! उसके सन्मुख की रुचि करना, यह ठीक है। वह भी अभी बैठा नहीं और यह रुचि बाहर की, पुण्य, दया, व्रत और भक्ति जो व्यवहार अनादि से बाहिरबुद्धि से और बाहर में अपनापन मानकर किया है। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानचेतना भगवान आत्मा...! यह समयसार का श्लोक है। ज्ञानचेतना को अथवा आत्मानुभूति को आनन्दसहित केलि कराना। अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं, भाई! प्रभु तू रुचि तो कर,

भाई! कि भगवान आत्मा परमात्मा मैं ही हूँ, हाँ! और इस परमात्मा का विस्तृत पर्याय में हो, वह सिद्ध है। समझ में आया? यह परमात्मा पूर्णानन्द का प्रभु मैं स्वयं हूँ। मुझमें अपूर्णता नहीं, विपरीतता नहीं। वस्तु में अपूर्णता और विपरीतता कहाँ से आयी? वस्तुरूप से परमानन्द के स्वभाव का पिण्ड, चिद्पिण्ड, चिदनाथ, अखण्डानन्द भगवान, वह मैं। ऐसी अन्तर्दृष्टि कर, ज्ञानचेतना की केलि कर। राग की चेतना और कर्मफलचेतना को गौण कर डाल। समझ में आया? सर्व काल शान्तरस का ही पान करना। यही ज्ञानी की प्रेरणा है। लो, यह ९३ गाथा (पूरी) हुई।

आत्मा को पुरुषाकार ध्यावे

पुरियासार-पमाणु जिय अप्पा एहु पवित्तु।
जोइज्जइ गुण-गण-णिलउ-णिम्मल-तेय-फुरंतु।। ९४।।

पुरुषाकार पवित्र अति, देखो आतम राम।
निर्मल तेजोमय अरु, अनन्त गुणों का धाम।।

अन्वयार्थ - (जिय) हे जीव! (एहु अप्पा पुरियासार-पमाणु पवित्तु गुण-गुण-णिलउ णिम्मल तेय-फरंतु जोइज्जइ) इस अपने आत्मा को पुरुषाकार प्रमाण, पवित्र, गुणों की खान व निर्मल तेज से प्रकाशमान देखना चाहिए।

९४, अब ज़रा अन्यमती से अलग बात (करते हैं) क्योंकि पुरुषाकार आत्मा है। लोकाकाश प्रमाण, लोक प्रमाण आत्मा नहीं ऐसा बड़ा आत्मा को आकाश प्रमाण बड़ा व्यापक होगा? तुम आत्मा की बहुत महिमा करते हो, महान... महान... महान... तो वह महान सम्पूर्ण लोकालोक में व्यापक होकर महान होगा? नहीं। वह व्यापकपना क्षेत्र से उसे महानपना नहीं हो सकता। उसे भाव का महानपना है, क्षेत्र से तो शरीर प्रमाण है, इसलिए शब्द लिया है।

पुरियासार-पमाणु जिय अप्पा एहु पवित्तु।
जोइज्जइ गुण-गण-णिलउ-णिम्मल-तेय-फुरंतु।।
९४।।

ओ...हो...! अकेले आनन्द की जड़ पड़ी है। यह वर्षा की झड़ी आती है या नहीं? वर्षा की झड़ी आवे, वहाँ तीन-तीन दिन तक सामने देखा नहीं जाता। पहले इतनी वर्षा थी, अब कम हो गयी है। आठ-आठ दिन। शनिवार से शुरु हो तो निश्चित होता कि (आगामी) शनिवार तक रहेगी। यहाँ तो तीन बार शनिवार से शुरु हो तो रविवार को कुछ नहीं मिले। उस समय तीन बार शनिवार से शुरु हुई। पहले ऐसा था, हाँ! पचास-साठ वर्ष पहले। यदि शनिवार से वर्षा शुरु हो तो शनिवार की आठ दिन की झड़ी हो। झड़ी अर्थात् आठ दिन तक बरसे - ऐसी पहले कहावत थी। मलूकचन्दभाई! पता है। एक बार, तीन बार शनिवार को आयी तो रविवार को कुछ नहीं मिला। शनिवार को शुरु हो तो लोग बातें करें। काल बदल गया। ए...ई...!

यहाँ कहते हैं कि हे जीव! इस अपने आत्मा को पुरुषाकार प्रमाण.... यह महा-सिद्धान्त है। पहले ९३वीं गाथा तक इतनी महिमा की, तब (किसी को लगे कि) इतना महान अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त-अनन्त गुण, तो यह बड़ा तो कितना (बड़ा) क्षेत्र से होगा? बापू! क्षेत्र से बड़ा (होवे उसकी) महिमा नहीं है; क्षेत्र से तो शरीर प्रमाण ही है। उसके गुणों के भाव के स्वभाव की अचिन्तता के भाव की महिमा है। समझ में आया? यह वेदान्त आदि कहते हैं न? सर्वव्यापक। क्या धूल सर्वव्यापक है? सुन तो सही! ध्यान करना हो तो इसे ऐसा करना पड़ता है? तो इसका अर्थ कि जितने क्षेत्र में है, उतने में एकाग्र करता है; इसलिए पुरुषाकार प्रमाण आत्मा है - ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया?

इस अपने आत्मा को पुरुषाकार प्रमाण, पवित्र.... भाव से पवित्र गुणों की खान.... है न? गुणगणणिलउ णिलउ गुण के समूह का निलय। निलय अर्थात् घर अकेले अनन्त आनन्दादि गुणों का घर आत्मा है, वह

तेरे राग में भी नहीं और तेरे पैसे में - धूल में कहीं नहीं, समझ में आया? गुणगणणिलउ और णिम्मलतेय फुरंतुं निर्मल तेज से प्रकाशमान देखना चाहिए।

ऐसा भगवान आत्मा शरीर-प्रमाण अन्तर निर्मल गुण का नाथ, तेज से स्फुरित - ऐसे आत्मा को अन्तर ज्ञान और श्रद्धा से देखना चाहिए।

आत्मा की भावना करने के लिए शिक्षा दी है कि आत्मा को ऐसा विचारना चाहिए कि उसका आत्मा अपने पुरुष के आकार-प्रमाण है, सर्व शरीर में व्यापक है। सम्पूर्ण शरीर में व्यापक सर्वत्र है या नहीं? अंगूठे से इस सिर तक; तथापि भिन्न जिस आसन में बैठा हो उस प्रमाण मानना - ऐसा कहते हैं। फिर लम्बी बात व्यवहार की बहुत डाली है। यह निर्मल जल समान, शुद्ध स्फटिक समान परम शुद्ध है। द्रव्यार्थिकनय से आत्मा को सदा निरावरण देखना। वस्तुदृष्टि से देखो तो निरावरण, त्रिकाल निरावरण है। वस्तु को आवरण क्या? समझ में आया?

सामान्य और विशेष गुणों का धारक है, वह ज्ञाता-दृष्टा है, वीतराग है, परमानन्दमय है, परमवीर्यवान है, शुद्ध सम्यक्त्व गुण का धारक है, परम निर्मल तेज में चमक रहा... है। भगवान चैतन्य के तेज में विराजमान है। उसके चैतन्य के नूर, प्रकाश के पुँज से चमक रहा है। राग और विकार से चमके, वह वस्तु नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? इस प्रकार अपने शरीर में व्यापक आत्मा को बारम्बार देखकर चित्त को रोकना यह ध्यान का प्रकार है। साधु विशेष कर सकते हैं परन्तु हम देशव्रती मध्यम ध्याता.... मुनि है वह आत्मा का उत्कृष्ट ध्यान कर सकते हैं। देशव्रती पंचम गुणस्थानवाला, दो-कषाय का अभाव हुआ है, इसलिए मध्यम ध्यान कर सकता है। मुनि है, उन्हें तीन कषाय अस्थिरता के कारण मिट गये हैं, इसलिए स्थिरता का कारण उन्हें अधिक है।

अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य ध्याता है। यहाँ अपने को वजन लेना है। चौथे गुणस्थान में भी... एक व्यक्ति ने यह डाला, टोडरमलजी ने तो कहा है कि चौथे गुणस्थान में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि में राग-द्वेष हो वह मिथ्याचारित्र है; इसलिए उसे मिथ्याचारित्र है, उसे चौथे में स्वरूपाचरण नहीं है... परन्तु समकिती को इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होती ही नहीं, सुन तो सही! इष्ट-अनिष्ट की अस्थिरता हो परन्तु यह पदार्थ इष्ट-अनिष्ट होता ही नहीं - ऐसा बड़ा लेख (आया) है। चौथे गुणस्थान में उसने पाँच इन्द्रिय के विषय छोड़े नहीं हैं, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि छूटी नहीं है, इसलिए उसे मिथ्याचारित्र कहा जाता है। इसलिए मिथ्याचारित्रवाले को स्वरूपाचरण नहीं है - ऐसा करके लिखा है। आहा...हा...! भाई! मिथ्याचारित्र नहीं, उसे अव्रत है। मिथ्याचारित्र तो जिसकी दृष्टि मिथ्यात्व पर है, उसके चारित्र को मिथ्याचारित्र कहा जाता है परन्तु ऐसे तीन शब्द प्रयोग अवश्य किये हैं न, मिथ्याचारित्र कहो, अचारित्र कहो, या अविरत कहो - ऐसे तीन शब्द टोडरमलजी ने प्रयोग किये हैं, वह तो अपेक्षा से है, भाई!

भगवान आत्मा अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य ध्याता है। स्वरूप की दृष्टि हुई है, उतना तो ध्यान करनेवाले की योग्यता प्रगट हुई है। सम्यग्दृष्टि ध्याता नहीं और (उसे) ध्यान भी नहीं - ऐसा नहीं है। ध्यान और ध्याता की शुरुआत चौथे से शुरु हो गयी है। समझ में आया? 'दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।' द्रव्यसंग्रह (गाथा ४७) में कहा है, ध्यान में एकाग्रता (होती है)। भगवान आत्मा के सन्मुख निर्विकल्प दृष्टि, वह ध्यान है और उसमें सम्यक्त्व उत्पन्न होता है - ऐसा सम्यक्त्वी जघन्य ध्याता है।

ध्याता को सम्यग्ज्ञान होना ही चाहिए। भगवान आत्मा की एकाग्रतारूप ध्यान करनेवाले को सम्यग्ज्ञान न हो तो ध्यान नहीं कर सकता। सम्यग्ज्ञान, आत्मा का भान होना चाहिए। नीचे बीच में है क्योंकि जब तक अपने आत्मा के शुद्धस्वभाव का श्रद्धान न हो, वहाँ

तक उसका प्रेम नहीं होता। भगवान आत्मा का प्रेम और पुण्य-पाप का प्रेम छूट न जाए, तब तक आत्मा का प्रेम नहीं होता और आत्मा के प्रेम बिना अन्दर लगनी नहीं लगती। लगनी लगने का नाम ध्यान है। इस संसार में दो-दो घण्टे पाप का ध्यान नहीं करते? भूल जाए, जिस विचार में चढा हो, उसमें यदि कुछ दो लाख-पाँच लाख, दो महीने में पैदा होनेवाले हों तो अन्दर से घोड़े चढ़ता है। (कोई पूछे) कहाँ थे? मैं तो विचार में चढ.गया था। घर में मेहमान आये थे परन्तु तुम आँख बन्द करके बैठे थे; इसलिए हम कुछ पूछ नहीं सके। मैं तो दो घण्टे विचार में चढ़ गया था। हैं? ध्यान करना तो आता है (परन्तु) उलटा। धीरुभाई! आता है या नहीं? ऐसे स्थिर हो जाये, स्थिर हो जाए। खोटे विकल्प में चढ़ जाए, इस लड़के का ऐसा हो जाए, अमुक ऐसा हो जाए, ऐसी श्रेणी हो जाती है। इसमें लड़के का विवाह हो, करोड़ की पूँजी हो, पाँच लाख खर्च करना हो, सगा-सम्बन्धी अच्छा हो, कोई आगे-पीछे मरण न हुआ हो, उसकी होंश में विचार करने बैठा हो कि इसका ऐसा करूँगा और वैसा करूँगा। रात्रि के दस से बारह दो घण्टे निकल जाते हैं, पता नहीं (चलता)। अरे...! कब-सब (हुआ)? यह सब हो गया। वरगोडा हो गया। सब चले गये तुम्हें सब ढूंढते थे, मैं तो कोने में बैठा था। बारात सब बाहर निकल गयी, मुझे पता नहीं। तुम्हें सब ढूँढते थे परन्तु तुम कहाँ बैठे थे? मैं भण्डार में बैठा था। वहीं का वहीं विचार में चढ.गया था। सबेरे ऐसा करना है, सबेरे वैसा करना है, सबेरे ऐसा करना है, ध्यान आता है या नहीं? इसी प्रकार जब उलटा आता है और दूसरा भूले तो यह सुलटा आवे और दूसरा भूले ऐसी उसमें ताकत है। समझ में आया? उलटे में तो ताकत शिथिल पड़ जाती है और सुलटे में ताकत तो उग्र होती है; इसलिए सुलटा करने की ताकत अधिक है। आहा...हा...! समझ में आया? इसलिए सम्यग्दृष्टि जघन्य ध्याता है।

जब तक इसका प्रेम न लगे, प्रेम बिना उसमें आसक्ति या स्थिरता नहीं हो सकती। प्रेम के बिना उसमें एकाकार ऐसी लीनता नहीं होती है। ध्याता को यह श्रद्धान होना ही चाहिए कि मैं ही परमात्मारूप हूँ। इस परमात्मा का पेट ही मैं हूँ। मैं परमात्मा हूँ, मुझमें से परमात्मा पर्याय प्रस्फुटित होनेवाली है। किसी पर्याय में से नहीं, राग में से नहीं, निमित्त में से नहीं। ऐसा परमात्मा (मैं हूँ)।

मुझे जगत के इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदों के प्रति कोई रागभाव नहीं। धर्मी को इन्द्र के सुख और पदवी की लालसा नहीं होती, तीन लोक का राज भी जहाँ सड़े हुए तिनके जैसा लगे, आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष सब सड़ा हुआ तिनका (लगे), पूरी दुनिया दु:खी लगे, इसलिए उस पद को ज्ञानी नहीं चाहते हैं। जिसमें मिठास लगे तो इच्छे परन्तु आत्मा के आनन्द की मिठास के समक्ष समकिती को किसी पद में मिठास दिखाई नहीं देती। पुण्यभाव में मिठास दिखाई नहीं देती तो उसके फल में मिठास कैसे देखेगा? हाँ? आहा...हा...!

अरे...! यह भगवान आत्मा, इसका सत् स्वरूप और सत् के अनन्त गुण, इसका इसने कभी माहात्म्य नहीं किया और यह व्यवहार-व्यवहार करके मर गया। वह तो निगोद में अनन्त बार वहाँ गया। शास्त्र में तो ऐसा भी आता है, फूलचन्दजी कहते हैं ऐसा कि निगोद में भी क्षण में साता बँधती है और क्षण में असाता बँधती है। इसलिए शुभ-अशुभ (चलता है) ऐसा एकबार कहते थे। आधार माँगा परन्तु.... ऐसा कहते हैं। पण्डितजी! निगोद में क्षण में साता बाँधता है। दूसरे समय में असाता, तीसरे समय में साता, इसलिए शुभ और अशुभ, शुभ और अशुभ ऐसा का ऐसा चला ही

(प्रवचनका शेष अंश पृष्ठ-१४ पर...)

श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१९५ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का कोयम्बतुर में हुआ प्रवचन दिः २५-०८-१९९७

पत्रांक-१९५ बंबई, पौष १९४७

सत्स्वरूपको अभेदरूपसे अनन्य भक्तिसे नमस्कार

जिसे मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है, उसे सब विकल्पोंको छोड़कर इस एक विकल्पको वारंवार स्मरण करना आवश्यक है-
''अनन्तकालसे जीवका परिभ्रमण हो रहा है, फिर भी उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती? और वह क्या करनेसे हो?''
इस वाक्यमें अनंत अर्थ समाया हुआ है; और इस वाक्यमें कही हुई चिंतना किये बिना, उसके लिये दृढ़ होकर तरसे बिना मार्गकी दिशाका भी अल्प भान नहीं होता; पूर्वमें हुआ नहीं; और भविष्यकालमें भी नहीं होगा। हमने तो ऐसा जाना है। इसलिये आप सबको यही खोजना है। उसके बाद दूसरा क्या जानना? वह मालूम होता है।

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्रांक-१९५) पत्रका (शीर्षक) है ''**सत्स्वरूपको अभेदरूपसे अनन्य भक्तिसे नमस्कार**।'' सत्स्वरूप माने जो त्रिकाल सत् रूप है, माने मौज्द है; जिसकी मौजूदगी त्रिकाल है उसको कहते हैं त्रिकालीक सत्। ऐसा जो अपना स्वरूप, उसको अभेदरूपसे नमस्कार। माने मैं नमस्कार करनेवाला और मेरा स्वरूप नमस्कार करने योग्य - ऐसा दो पनाका भाव इसमें नहीं है। यानी अपने स्वरूपमें जो पर्याय लीन हो जाती है, ढल जाती है; वही अभेद नमस्कार है।

प्रश्न :- अभेद भक्ति को और समझाईए।

पू. भाईश्री :- सत्स्वरूप माने त्रिकाल अस्तित्व जिसका है, अविनाशी अस्तित्त्व है - ऐसा जो अपना सत्स्वरूप, उसको अभेदरूपसे नमस्कार, माने नमस्कार करनेवाला और नमस्कार करने योग्य - ऐसा विकल्पात्मक भेद जिसमें नहीं रहा। लेकिन अपने स्वरूपकी महानता, अपने स्वरूपकी पवित्रता, अपने स्वरूपके ऐसे दिव्य गुणोंको देखकरके, देखनेवाली अवस्था अपनत्व करके लीन हो गई, उसीको अभेद भक्तिसे नमस्कार कहा जाता है। अभेद, अनन्य भक्ति, अनन्य माने ऐसी कोई भक्ति होती नहीं; वह पराभक्ति है - पराभक्ति माने आखरी, चरमसीमाकी भक्ति। दो पना नहीं रहे वह पराभक्ति है, ऐक्यता हो जाना। द्रव्य-पर्यायका ऐक्य हो जाना - ऐसी निर्विकल्प अवस्थाको अनन्य भक्तिरूप

नमस्कार बोला जाता है। ऐसी अपनी भक्तिका स्मरण करके पत्रका प्रारंभ करते हैं।

''**जिसे मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है**..'' मार्ग माने उपाय, संसारका नाश करनेका उपाय, और सिद्धपद-मोक्षपद-निर्वाणपद प्राप्त करनेका उपाय- उसको कहते है मार्ग। यानी कि रत्नत्रयरूप मार्ग। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र वही इसका उपाय है। संसारके नाशका भी वही उपाय है और मोक्षपदका भी वही उपाय है। ऐसे मार्गकी इच्छा-मार्गकी इच्छा माने मार्ग प्राप्त करनेकी इच्छा, जिसको उत्पन्न हुई है ''**उसे सब विकल्पोंको छोड़कर इस एक विकल्पको वारंवार स्मरण करना आवश्यक है।**''

प्रश्न :- सभी विकल्पोंको छोड़कर उसमें परलक्ष लेना क्या ?

पू.भाईश्री :- परलक्ष छोड़ना और (आगे) जो विकल्प दिया है उसको छोड़कर दूसरा (विकल्प) नहीं होना। मार्ग प्राप्तिके लिये अन्य प्रकारके उपायमें नहीं जाना, यही विकल्पमें आना, ऐसा कहना चाहते हैं। परलक्षकी बात तो बहुत दूर रही लेकिन उपायांतर की बात भी नहीं करना, क्या? दूसरे उपायकी बात भी नहीं करना, ऐसी बात करते हैं।

प्रश्न :- भाईश्री, आप बोले कि उस बातका वारंवार स्मरण करना चाहिए....वह कैसे ?

पू.भाईश्री :- स्मरण करना माने याद करना। जैसे अब यह पहला वचन हमने पढ़ा, कि मार्गकी इच्छा जिसको उत्पत हुई है तो इस वचनका स्वाध्याय करते हुए, स्वलक्षसे स्वाध्याय करते हुए, हमें अपनेमें तलाश कर लेनी चाहिए - चेकिंग कर लेना चाहिए कि क्या (वास्तवमें) हमको मार्गकी इच्छा उत्पत हुई है ? तभी हम, यहाँ जो ज्ञानीपुरुष बात कहते हैं उसको स्वीकार कर सकेंगे। अगर इमानदारीसे हमको वह इच्छा नहीं है यानी संसारकी भी इच्छा है, संसारके कुछ प्रसंगकी, कुछ पदार्थकी (भी इच्छा है), तो यह बात स्मरणमें रहनेवाली नहीं है; बल्कि स्मरण छूट जायेगा। जो बात वे कहना चाहते हैं कि बारंबार इसका स्मरण करना, लेकिन वह स्मरण रहनेवाला नहीं है। इसलिये पहले हमको हमारेमें वह देख लेना है कि खरेखर-वास्तवमें हमको मोक्ष मार्गकी इच्छा है ? या नहीं है ? यानी वास्तवमें ही हमको संसार छोड़ना है कि नहीं छोड़ना है, या भोगना है ? - क्या बात है? वह पहले हमको देख लेना चाहिए, तब तो आगेका काम होगा, वरना होनेवाला नहीं है। स्वाध्याय हो गया तो बात खत्म! यह (बात) सिर्फ स्वाध्यायके लिये नहीं है, ये जो कह रहे हैं यह बात अमलीकरणकी है। क्या ? सिर्फ स्वाध्यायकी नहीं है, अमलीकरणकी है। इसलिये यह बात पहले चेक कर लेनी चाहिए कि हमें बराबर मार्गकी इच्छा उत्पत हुई है ?

कोई भी आदमी परस्पर विरुद्ध ऐसे दो मार्ग पर एकसाथ नहीं चल सकता। एक मार्ग पूर्वमें जाता है, (और दूसरा) एक पश्चिममें-चलनेवाला या तो पूर्वमें जायेगा या तो पश्चिममें। एक साथ दो दिशामें जा सकेगा? नहीं। ऐसा ही संसार-मोक्षका है, दोनों प्रतिपक्षमें हैं। तो तुम देखो अपने आपमें कि तुमको किस मार्गमें जाना है? दो घोड़ोंकी सवारी तो होनेवाली है ही नहीं। अत: अंतरसे जिसको संसारमार्गमें नहीं जाना है यानी अंतरसे जिसको थकान आई है - कि हमको नहीं जाना है, उसके लिये यह पत्र है। बाकी तो स्वाध्याय अनेक बार करेंगे, हमारी परिस्थिति वहीं की वहीं रह जायेगी। कौनसा विकल्प बार-बार स्मरण करनेका है ?- कि ''**अनंतकालसे जीवका परिभ्रमण हो रहा है, फिर भी उसकी निवृत्ति, क्यों नहीं होती?**'' अनंतकालसे जीवका माने मेरा, जीव कौन है ? मैं हूँ, जीव माने मैं, कोई परका, दूसरेका विकल्प हमें नहीं करना है। अनंतकालसे मेरा परिभ्रमण होने पर भी उसका नाश क्यों नहीं हो रहा है? परिभ्रमण क्यों चालू रहा है ? और ऐसा मैं क्या करूँ? ऐसी कौनसी करनी करूँ कि जिससे (इस) परिभ्रमणका नाश हो जाय, यह मेरा संशोधनका

विषय है। अनंतकालसे मेरा परिभ्रमण चालू रहा है और इसका नाश नहीं हो रहा है - यह मेरी चिंताका विषय है। और कैसे नाश होवे यह मेरे संशोधनका विषय है, मेरी जिज्ञासाका विषय है, मेरी भावनाका विषय है। ये दो प्रकारके परिणाम बार बार होने चाहिये, यानी विस्मरण नहीं होना -चाहिये। कब तक ? कि जब तक पूर्ण शुद्धिका, पूर्णताका लक्ष्य नहीं होवे तब तक। क्योंकि यह चिंतना और यह (मार्ग) प्राप्तिकी भावनाकी वेदना (मार्गकी) अप्राप्ति होनेसे, पूर्णताके लक्ष्यमें परिणमन करेगी। कारण-कार्यका दोनोंमें सम्बन्ध है। और ऐसा पूर्णताका लक्ष्य होवे तभी यथार्थ चिंतना और वेदना हुई है - ऐसा गिनना वरना कुछ होकरके, कुछ खेद होकरके, चला जायेगा। जिसका कोई महत्व नहीं है, क्योंकि वह खेद कार्यसाधक नहीं हुआ। कार्यसाधक कब हुआ कहा जाये ? - कि (जब) पूर्ण शुद्धिका लक्ष, पूर्ण शुद्धिका ध्येय निश्चित हो तब। इसलिये जब तक ऐसे लक्ष्यका - पूर्ण शुद्धिके लक्ष्यका रीअल्ट नहीं आये तब तक उसका विस्मरण नहीं होना चाहिए। अगर वह विस्मरण हो गया, या होता रहेगा तो समझना कि हमको परिभ्रमणका भय, भवभ्रमणका भय नहीं है, उसकी कोई चिंता नहीं है - यह मानके चलना चाहिए; साबित करनेकी जरूरत नहीं है।

अब कहते हैं कि ''**इस वाक्यमें अनंत अर्थ समाया हुआ है**;....'' समाविष्ट है, वह कैसे ? कि तुम चिंतनामें आओ तो पता चलेगा, सुननेसे तो सुना अनसुना हो जायेगा; कहाँ तक वह स्मरणमें रहेगा ? सुनी हुई बात कहाँ तक स्मरणमें रहती है ? ज्यादा समय नहीं रहती है। जो परिभ्रमणकी चिंतनामें आता है उसको ज्ञानीके, इस वचनमें - यह जो वचन दिया है उसमें कितना अर्थ, कितना भाव समाया है उसका पता चलता है। कैसे ? कि जीवको परिभ्रमणके कारणरूप अनेक प्रकारके अनंत भाव जो हुए हैं, हो रहे हैं; उसका भावभासन होगा। (वह इस प्रकार कि) यह जो मेरे परिणाम चल रहे हैं ये सब (परिभ्रमण के कारणरूप हैं)- ऐसे-ऐसे ही मैंने परिभ्रमण किया है, ऐसे ही मैंने परिभ्रमण किया (है) अर्थात् चिंतना होते ही इसमें क्या अर्थ भरा है, कितना अर्थ भरा है (उसका) पता चल जायेगा। एक वाक्यमें अनंत अर्थ भरा है - देखो, ज्ञानीका ज्ञान !! एक वाक्य कहकरके, एक वचन कहकरके कहते हैं कि देखो, इसमें अनंत अर्थ भरा है! कैसे कह पाते हैं ?- क्योंकि इस परिस्थितिमेंसे वे गुजरे हुए हैं इसलिये उनको मालूम है। यहाँ तो समस्या और समाधान दोनों साथमें देते हैं कि तुम्हारी यह समस्या है, और इस समस्याका समाधान निकालते वक्त तुमको ऐसा-ऐसा होगा। अगर ऐसा नहीं होता है तो मानना कि तुम अभी सहीरूपसे तुम्हारी समस्यामें आये ही नहीं। क्यों ? कि बहुभाग बहुत सी बातें सुनकरके बौद्धिक स्तर पर उसका निर्णय लिया जाता है, और बौद्धिक स्तर पर आगे बढ़ना होता है - यहाँ इस प्रकारकी बात नहीं है। यहाँ तो इसका असर होते ही, परिभ्रमणका भावभासन हुआ कि कितना दुःख (भरा है) !! कि जिसका कोई हिसाब नहीं इतना दुःख है। ऐसा भाव भासित होते ही, उसकी चिंतना हुए बिना रहेगी नहीं। तब (चिंतना) करनी नहीं पड़ती, हो जाती है; और वैसे करने जाये तो कर नहीं सकते। कोई तो कृत्रिमतासे रो लिये - रोना-धोना हो गया तो उसका कोई मूल्य नहीं है। इसलिये कहते हैं कि ''**इस वाक्यमें अनंत अर्थ समाया हुआ है** ''

''**और इस वाक्यमें कही हुई चिंतना किये बिना,'' या चिंतना हुए बिना** ....

प्रश्न :- अनंत अर्थका आपने जो समझाया, उसको छोड़कर, और कोई पहलू है ? दूसरा साईड भी है क्या ?

पू.भाईश्री :- नहीं साईड तो यह कही और दूसरी साईडमें इसका सोल्यूशन भासित होता है कि यदि इतने परिभ्रमणके भाव हैं तो उनके सामने उनको (मिटानेका) उपाय भी होना चाहिए। जिन दोषोंसे परिभ्रमण हो रहा है, जैसे-जैसे दोषसे परिभ्रमण हो रहा है, उन-उन

दोषोंको मिटानेके लिये वैसे-वैसे उसके उपाय भी होने ही चाहिए, ऐसा गहराईसे विचार करने पर बिना रहेगा नहीं। इससे भावोंका जगत कितना विशाल है इसका ख्याल आयेगा। भावोंकी दुनिया है उसकी विशालता भी बहुत है, यह बात ख्यालमें आ जायेगी और इन भावोंमें मैं भटक रहा हूँ, यह मेरी भाव परिभ्रमणकी परिस्थिति है और जिससे भिन्न-भिन्न क्षेत्रमें, भिन्न-भिन्न परिस्थितिमें, एकेन्द्रिय से लेकरके पंचेन्द्रिय तक-तिर्यंचमें, मनुष्यमें, देवमें, और नारकीमें जन्म-मरण हो रहा है, यह द्रव्यपरिभ्रमण है। जीव द्रव्यपरिभ्रमण कर रहा है। इसका कारण भावपरिभ्रमण है। भावपरिभ्रमण कारण है, द्रव्यपरिभ्रमण उसका फल है। अनंतकालसे मेरा परिभ्रमण हो रहा है फिर भी इसका नाश क्यों नहीं हो रहा है ? इसको खोजने जायेगा तब मालूम पड़ेगा कि इसमें अनंत अर्थ कैसे समाया हुआ है।

हमको यह बात प्रवचनसे नहीं समझनी है, चिंतनामें आकर (के) यह बात समझनी है। क्यों ? कि (यह) फीलींग स्टेज है; चिंतना है, यह फीलींग स्टेज है, वैचारिक स्टेज नहीं है। फीलींग स्टेज जो होता है, फीलींग स्तर जो होता है, उसको यथार्थ समझनेके लिये वैसी फीलींग में आना जरूरी है। जैसे एक आदमी हमको मिला (हमें कहा) कि (आप कहते हो) 'हमको हमारे आत्मा पर प्रेम होना चाहिए, हमको ग्णका प्रेम होना चाहिए;' लेकिन मेरे जीवनमें कभी किसीसे प्रेम हुआ ही नहीं, किसी पर मुझे प्रेम हुआ नहीं, मुझे किसीसे प्रेम हुआ ही नहीं और मैं यह भाषा समझता ही नहीं - तो मैं क्या करूं ? तो उसको तो ऐसा कहना पड़ेगा कि जब प्रेमका भाव आयेगा तभी पता चलेगा कि वह क्या चीज होती है ! कि जिस पर प्रेम होता है उसके बिना तड़पन कैसी होती है ? वह तभी पता चलता है! यह सब फीलींग की जो बात है वह फीलींगसे समझी जाती है, बिना वालोंको, इस प्रकारकी बिना फीलींगवालोंको वह बात समझमें नहीं आती; समझना है तो फीलींगमें आ जाओ। वरना वह बात यथार्थरूपसे समझमें नहीं आयेगी।

जैसे माँ को मातृत्वप्रेम होता है,वह मातृत्वप्रेमका पता, पिताको भी नहीं चलता है तो दूसरेको तो कहाँसे चलेगा ? जब कि संतान है वह तो दोनोंकी है, फिर भी माँ, माँ होती है; माँ है वह माँ ही होती है। माँ को जो प्यार होता है, प्रेम होता है इसका १/४ पिताको होता है, इससे ज्यादा नहीं होता, यह जनरल (सामान्यरूपसे) बात है- व्यक्तिगत कोई बात नहीं है; जनरली हमारे यहाँ यह बात बोली जाती है, माँ होती है वह माँ ही होती है। अब कोई समझना चाहे (कि) माँ का मातृत्व प्रेम कैसा होता है ? तो उसको कहना पड़े कि तुम माँ बनो तब ही पता चलेगा - कब पता चलेगा ? माँ बनोगे तब, इसके पहले पता नहीं चल सकता।

ऐसे ही स्वानुभवका सुख है, उसे कोई ज्ञानी-अनुभवी कितना भी अनुभव करके बतावें, फिर भी समझमें नहीं आयेगा। आनंदकी महिमा करे, (फिर भी) समझमें नहीं आयेगा। क्योंकि उसकी बराबरी करनेके लिये कोई चीज है ही नहीं, फिर भी बता देते हैं कि इन्द्रका इन्द्रासन इसके आगे कुछ नहीं है। जब कि इस प्रकारकी कम्पेरीञन (तुलना करनेकी) वह चीज ही नहीं है। क्योंकि किसीके साथ उसकी बराबरी हो ही नहीं सकती। वह अनुपम चीज है-किसकी उपमा दें ?

प्रश्न :- जगतवालेको जिसकी महिमा है वह आईटम से (बराबरी करे तो) ?

पू.भाईश्री :- तो भी समझमें नहीं आयेगा। उसके लिये स्वानुभव होना ही जरूरी है।

प्रश्न :- यह जो कहा कि संशोधनमें जाना चाहिये कि मेरा परिभ्रमण क्यों हो रहा है (इसका मतलब क्या है) ?

पू.भाईश्री :- संशोधन (माने) जिज्ञासा, भावना। मेरा परिभ्रमण क्यों हो रहा है ? मेरा परिभ्रमण क्यों हो रहा है और क्या करनेसे मिटे ? इसका उपाय क्या ? उपायके लिये दृढ़ होकर तरसे बिना - **''इस वाक्यमें**

कही हुई चिंतना किये बिना...'' माने परिभ्रमणकी चिंतना किये बिना, और **''उसके लिये दृढ़ होकर तरसे बिना...**'' - तड़पन जो होती है, उसको मार्ग-प्रेम कहते हैं, मार्ग-भक्ति कहते हैं। वह मार्ग-भक्ति कब आती है ? कि जब उसके लिये तड़पन आती है। जब बहुत तृषा लगती है तो तड़पन होती है न ? - तरसे बिना; (अर्थात्) अप्राप्तिका दुःख। उपायकी प्राप्ति नहीं है इसका दुःख हुए बिना-अरे ! मेरे पास मेरे परिभ्रमणसे छूटनेके लिये कोई उपायकी प्राप्ति नहीं है। मुझे चाहिए (वह) मिल नहीं रहा है।

''**उसके लिये दृढ़ होकर तरसे बिना मार्गकी दिशाका भी अल्प भान नहीं होता** ;'' वर्तमानमें किसीको भी मार्गकी सूझ होती नहीं है-इस स्थितिमें आये बिना; इस फीलींग स्टेज में आये बिना किसीको भी मार्ग कैसा होता है इसका भान तो नहीं होता लेकिन मार्ग किस दिशामें है इसका भी अल्प भान नहीं होता; धारणावाला बोल देगा कि अंतर्मुखदिशामें मार्ग है; और वह सम्यक्दर्शन, ज्ञान चारित्ररूप है लेकिन यहाँ उसके भानकी बात चली है, सिर्फ उसकी जानकारी की बात नहीं चली है। तुम्हारी जानकारी है वह भान तो नहीं है। शब्दका प्रयोग क्या है? 'भान' ऐसा है, 'जानकारी' नहीं है। भान होना कि मैं परिभ्रमण कर रहा हूँ। तभी उसकी चिंता होगी और उसकी तरस आयेगी (और) तब मार्गकी दिशाका भान आयेगा; वरना जो जानकारी होगी वह बेकार जायेगी; जानकारी बेकार ही है; इससे कुछ होनेवाला नहीं है। मोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिये मुमुक्षुकी भूमिका चाहिए और मुमुक्षुकी भूमिका का यह प्रथम चरण है। बिना मुमुक्षु हुए, बिना आत्मार्थी हुए कोई मोक्षमार्ग नहीं पाता। और जो मुमुक्षु मोक्षमार्ग प्राप्त करनेके लिये मुमुक्षुतामें आता है उसका पहला स्टेज, प्रथम चरण यही आता है।

(इस तरह) लिखते हैं कि ''**मार्गकी दिशाका भी अल्प भान नहीं होता; पूर्वमें हुआ नहीं, और भविष्यकालमें भी नहीं होगा। हमने तो ऐसा जाना है।**'' हमारे अनुभवसे हमने तो ऐसा जाना है। ''**इसलिये आप सबको यही खोजना है**''। किसीको बाकी नहीं रखा कि तुम विद्वान हो तो तुमको वेदना नहीं आए तो चलेगा, तुम अगर सिर्फ शास्त्र पढ़े हो....(तो चलेगा)। ''**उसके बाद दूसरा क्या जानना? वह मालुम होता है**।'' क्या जानना चाहिए, क्या करना चाहिए, वह समझमें आता है, इसके पहले (जो) कुछ जाननेमें आया होगा वह बेकार ही जायेगा, ऐसा कहनेका (अभिप्राय) है। (समय समाप्त होता है।)

पूज्य भाईश्री शशीभाईजी के प्रवचन अब You tube पर

परम उपकारी पूज्य भाईश्री शशीभाईजी के प्रकाशित पुस्तकों के प्रवचन गुजराती एवं हिन्दी भाषा के Subtitle साथ अब देखिये। You tube में Satshrut prabhavna channel पर जाकर यह प्रवचन सुन सकते हो। राज-हृदय, कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी के ग्रन्थ पर हुए प्रवचन अभी चल रहे हैं। हर रविवार सुबह ११ बजे इन प्रवचनों का जीवंत प्रसारण होता है, जिसका सर्व मुमुक्षुओं को लाभ लेने की विनती। Channel को Subscribe करने से आगामी प्रसारित प्रवचन का Notification स्वयं ही प्राप्त हो जायेगा।

(पृष्ठ-०८ से आगे...)

आता है, ऐसा कहते थे... कुछ होगा परन्तु आधार ख्याल में नहीं आया। निगोद में, हाँ! यह नित्य-निगोदवाले। ऐसे शुभ -अशुभभाव, शुभ-अशुभभाव क्षण-क्षण हुआ ही करते हैं। शुभ-अशुभ, शुभ-अशुभ, शुभ-अशुभ क्रम है। ऐसा कहा था, भाई! नहीं? फिर हमने माँगा था, आधार कहीं है? हमने ढूँढा भी था परन्तु बहुत मिला नहीं, कहीं-कहीं ढूँढा अवश्य था। निगोद के जीव हैं न? उन्हें बहुत अभ्यास है। इसलिए कुछ हमने पूछा था, उसका आधार क्या? लाओ, मैं भेजूँगा (ऐसा कहा था) परन्तु भूल गये।

मुमुक्षु - .....

उत्तर - ध्रुव प्रकृति भी परिणमन का निमित्त है या नहीं? ध्रुव प्रकृति भी निमित्त कौन? ऐसा कहते हैं न? हमने कहा कि शास्त्र में अशुभ परिणाम के समय भी पुण्य में थोड़ा रस पड़ता है। तब कहे, वह तो ध्रुव प्रकृति परन्तु ध्रुव प्रकृति में निमित्त कौन? अपने आप मुफ्त में पड़ गयी? यह सिद्ध हुआ कि अशुभ के समय प्रकृति ने भले थोड़ा रस (पड़े) और पाप में बहुत रस पड़ता है। समझे न? इसलिए वह शुभ करने जैसा है, यह प्रश्न वहाँ कहाँ है? यह तो क्या होता है? सबने बहुत चिल्लाहट मचायी थी। अर...र...! अशुभभाव के समय भी पुण्य में रस? परन्तु भगवान कहते हैं, सुन न अब। अकेले शुद्धभाव में बिलकुल बन्ध नहीं परन्तु शुभ-अशुभ में तो अशुभ के समय पाप में अधिक, पुण्य में थोड़ा, शुभ के समय पुण्य में अधिक और पाप में थोड़ा - ऐसी दो वस्तु होती ही हैं, वस्तु का स्वरूप ऐसा है।

यहाँ कहते हैं, मैं परमात्मा हूँ, मुझे इन्द्र आदि के पद की भी मुझे भावना नहीं है। सम्यग्दर्शन, इन्द्र के पद, उपर से डोले इन्द्रियाणियाँ, मेरे आनन्द के आगे सब तेरे पद खोटे हैं। ऐसी उसकी अन्तर की दृढ़ता आत्मा पर होती है। फिर तीन शल्यरहित की विशेष बात की है।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पूज्य भाईश्री शशीभाईकी ९०वीं जन्म जयंती आनंदोल्लासपूर्वक संपन्न

आत्मानुभव संपन्न परम उपकारी पूज्य भाईश्री शशीभाई की ९०वीं जन्म जयंती '**श्री शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर**' में आनंदल्लासपूर्वक मनाई गई । इस मंगल अवसर पर बंबई, कोलकाटा, अहमदाबाद, आग्रा, सोनगढ़ इत्यादि शहेरों से अनेक मुमुक्षुओं ने लाभ लिया । दि. २९-११-२०२२ के दिन जिनमंदिरजी से एक भव्य रथयात्रा का आयोजन किया गया ।

दि. ३०-११-२०२२ जन्म जयंती के दिन बालकुंवर का पारणाझुलन, जन्मबधाई एवं गुरुभक्ति आदि कार्यक्रम सानंद संपन्न हुए ।

पूज्य बहिनश्री चंपाबेनकी विडीयो तत्त्वचर्चा मंगल वाणी-सी.डी. १३-B

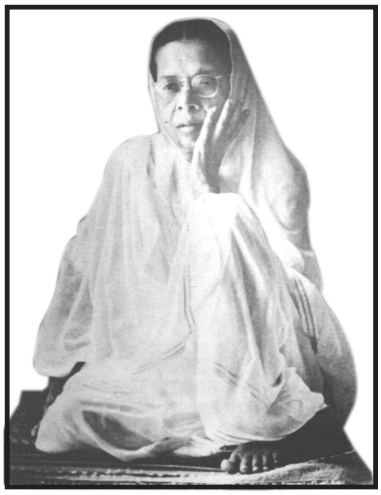

मुमुक्षु :- माताजी! 'गुरुदेव के वचनामृत' में आता है कि सर्वज्ञ को जिसने अपनी पर्याय में स्थापित किये उसे सर्वज्ञपना आ गया। तो किसप्रकारसे स्थापना करनी और ऐसा होनेपर सर्वज्ञ होने का निर्णय किसप्रकारसे आता होगा?

समाधान :- सर्वज्ञ है। मैं स्वयं सर्वज्ञ स्वभाव हूँ, मेरा सर्वज्ञ स्वभाव है और सर्वज्ञ पुरुषार्थसे हुआ जा सकता है। ऐसा उसने निर्णय किया कि मैं सर्वज्ञस्वभाव ज्ञायक हूँ। जो ज्ञायक है उसमें मात्र जानना आता है, नहीं जानना आता ही नहीं। पूर्ण तो जानने में नहीं आता परन्तु आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभावी है तो वह ज्ञानस्वभावी ऐसा होना चाहिये कि जिसमें ज्ञान की मर्यादा नहीं आये, परन्तु वह पूर्ण जाने ऐसा उसका स्वभाव है और ऐसा स्वभाव होना चाहिये कि पूर्ण जाने। ऐसा आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी है। और वह सर्वज्ञता हो सकती है। इसप्रकार उसे स्वभाव का निर्णय आया, सर्वज्ञ स्वभाव का निर्णय आया और पुरुषार्थ करनेसे हो सकता है, इसप्रकार सब निर्णय उसे अंतर में हो गया है। जिसने सर्वज्ञ को आत्मा में स्थापित किये उसे। ऐसे सर्वज्ञ जगत में है, ऐसा पुरुषार्थ करनेवाले को आत्मा का स्वभाव भी सर्वज्ञस्वभावी है। ऐसे निर्णय में उसे सब आ जाता है।

मुमुक्षु :- स्वयं का आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है ऐसा निर्णय जिसे होता है वह अपने अंतर में सर्वज्ञ को स्थापित करते हैं।

समाधान :-हाँ, वही स्थापित करता है सर्वज्ञको। मैं सर्वज्ञ स्वभावी हूँ, मेरा आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी है। वही अपने आत्मा में सर्वज्ञ को स्थापित करता है।

मुमुक्षु :- ऐसा हुआ उसे सर्वज्ञ होने का निर्णय हो गया। जिसने अपनी पर्याय में इसप्रकार अपना सर्वज्ञ स्वरूप जानकर निश्चित किया उसे मैं सर्वज्ञ होनेवाला हूँ, ऐसा निर्णय भी साथ में हो जाता है?

समाधान :- ऐसा निर्णय साथ में हो जाता है। आत्मा सर्वज्ञ स्वभाव है, ऐसे आत्मा का जिसने आश्रय लिया और यह आश्रय लेनेसे, उस आश्रय में दृढ़ता करनेसे, उसप्रकार का पुरुषार्थ चालू रखनेसे सर्वज्ञ होनेवाला हूँ, ऐसा (निश्चित) हो जाता है।

मुमुक्षु :- मैं सर्वज्ञ हूँ, ऐसा विचारपूर्वक नक्की करे, फिर उसकी रुचि बढ़ते-बढ़ते दृढ़ निश्चय होवे, फिर निर्विकल्प होता है, सबके लिये समान बात लागू पड़ती है कि उसे सर्वज्ञ होनेवाला हूँ ऐसा निर्णय हो जाता है? जो इसप्रकार अपनी पर्याय में मैं सर्वज्ञ हूँ, ऐसी स्थापना करे उसे मैं सर्वज्ञ होउँगा अथवा मैं सर्वज्ञ होनेवाला हूँ, ऐसा निर्णय भी उसके साथ उसे हो जाता है?

समाधान :- यथार्थ निर्णय करे उसे सब निर्णय हो जाता है। मैं सर्वज्ञ स्वभाव हूँ और मैं सर्वज्ञ स्वभावी होउँगा।

यह सब यथार्थ निर्णय जिसे होता है, विचारपूर्वक का निर्णय (किया) उसने विचारसे निर्णय किया है, परन्तु द्रव्य का आश्रय लेकर निर्णय करता है उसमें उसे सब निर्णय उस दृढ़ता में आ जाता है। और उस दृढ़ता के ज़ोर में निर्विकल्प भी उस दृढ़ता के ज़ोर में होता है। मैं सर्वज्ञ हूँ और सर्वज्ञ होउँगा। मेरे पुरुषार्थसे होगा, ऐसा निर्णय जिसने द्रव्य के आश्रयसे किया, वह द्रव्य के आश्रय के ज़ोर में निर्विकल्प होता है। परन्तु मात्र विचारसे, विकल्पसे नक्की किया परन्तु यदि आगे नहीं बढता है तो विचारमात्र रह जाता है।

मुमुक्षु :- उसी रुचि को आगे बढ़ाकर..

समाघान:- उसी रुचि को आगे बढ़ाकर आगे बढ़े, पुरुषार्थ आगे बढ़ाये तो उसे द्रव्य का यथार्थ निर्णय होता है।

मुमुक्षु :- तो उसे भी पहले भी ऐसा विश्वास हो सकता है कि मैं सर्वज्ञ होनेवाला हूँ?

समाधान :- हाँ, पहले हो सकता है। द्रव्य का आश्रय ले तो हो सकता है।

मुमुक्षु :- अनन्त सर्वज्ञ हो गये और दूसरे अनेक होंगे, ऐसा सर्वज्ञ का निर्णय करनेवाला अपने आत्मा में सर्वज्ञत्व की स्थापना कर सकता है? अनन्त सर्वज्ञ हो गये यह तो मानता है, लेकिन मैं सर्वज्ञ स्वभावी हूँ ऐसा यदि निर्णय नहीं होता..

समाधान :- अनन्त सर्वज्ञ हो गये और मैं सर्वज्ञ स्वभाव हूँ, ऐसा जिसे निर्णय नहीं होता, वह अनन्त सर्वज्ञ हो गये ऐसा निर्णय करे लेकिन उस निर्णय को यथार्थता लागू नहीं पड़ती। मैं सर्वज्ञ स्वभावी हूँ, ऐसा निर्णय करे तो उसके साथ अनन्त सर्वज्ञ हो गये, ऐसा निर्णय उसका यथार्थ होता है। पहलेवाला व्यवहार निर्णय है। भगवान हो गये, अनन्त तीर्थंकर हुए ऐसा निर्णय करता है वह मात्र शुभभावसे विचारसे नक्की करता है। ऐसा उसका व्यवहार निर्णय है। लेकिन मैं सर्वज्ञ स्वभाव हूँ, ऐसा निर्णय करे उसके साथ अनन्त सर्वज्ञ हो गये, ऐसा निर्णय यथार्थ कहलाता है।

मुमुक्षु :- ऐसा निर्णय, समाज के सभी संप्रदाय सर्वज्ञ है, सर्वज्ञ हुए हैं ऐसा तो सब मानते हैं, परन्तु मैं सर्वज्ञ स्वभावी हूँ, ऐसा तो क्वचित् ही मानते हैं।

समाधान :- ऐसा तो व्यवहार में सब मानते ही हैं कि अनन्त सर्वज्ञ हो गये, परन्तु मैं सर्वज्ञ स्वभावी ऐसा माननेवाला कोई हो तो उसे अपने स्वभाव का निर्णय हो वह मानता है। ऐसे तो क्वचित् ही होते हैं। ऐसी निश्चय की दृष्टि करनेवाले की स्वभाव पर दृष्टि जाये तो ही ऐसा निर्णय हो सकता है, अन्यता नहीं होता।

***

(पृष्ठ-१७ से आगे...)

है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, 'आत्मा भोक्ता है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, 'मोक्ष है' ऐसा जिस प्रमाण से ज्ञात हो और 'उसका उपाय है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, वह वारंवार विचारणीय है। 'अध्यात्मसार'में अथवा चाहे किसी दूसरे ग्रंथमें यह बात हो तो विचार करनेमें बाधा नहीं है।

कल्पनाका त्याग करके विचारणीय है।

जनक विदेहीकी बात अभी जाननेसे आपको लाभ नहीं है।

सबके लिये यह पत्र है।

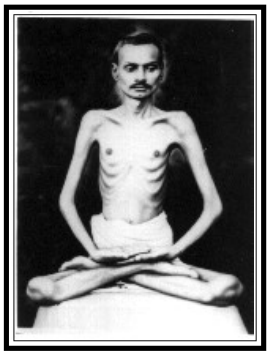

परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी द्वारा लिखित आध्यात्मिक पत्र

पत्रांक - ३३०

बंबई, माध,१९४८

किसनदास आदि जिज्ञासु,

दीर्धकाल तक यथार्थ बोधका परिचय होनेसे बोधबीजकी प्राप्ति होती है, और यह बोधबीज प्रायःनिश्चय सम्यक्त्व होता है।

जिनेद्र भगवानने बाईस प्रकारके परिषह कहे हैं, उनमें दर्शनपरिषह नामका एक परिषह कहा है, और एक दूसरा अज्ञानपरिषह नामका परिषह भी कहा है। इस दोनो परिषहोका विचार करना योग्य है; यह विचार करने की आपकी भूमिका है; अर्थात् उस भूमिका (गुणस्थानक)का विचार करनेसे किसी प्रकारसे आपको यथार्थ धैर्य प्राप्त होना सम्भव है।

किसी भी प्रकारसे स्वयं मनमें कुछ संकल्प किया हो कि ऐसी दशामें आये अथवा इस प्रकारका ध्यान करें, तो सम्यक्तवकी प्राप्ति होती है, तो वह संकल्पित प्रायः (ज्ञानीका स्वरुप समझमें आनेपर)मिथ्या है, ऐसा मालुम होता है।

यर्थाथ बोधके अर्थका विचार करके, अनेक बार विचार करके अपनी कल्पनाको निवृत्त करनेका ज्ञानियोंने कहा है।

'अध्यात्मसार'का अध्ययन, श्रवण चलता है सो अच्छा है। अनेक बार ग्रंथ पढ़नेकी चिंता नहीं परंतु किसी प्रकारसे उसका अनुप्रेक्षण दीर्धकाल तक रहा करे ऐसा करना योग्य है।

परमार्थ प्राप्त होनेके विषयमें किसी भी प्रकारकी आकुलता-व्याकुलता रखना-होना-उसे 'दर्शनपरिषह' कहा है। यह परिषह उत्पन्न हो यह तो सुखकारक है; परंतु यदि धैर्यसे वह वेदा जाये तो उसमेंसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होना संभव होता है।

आप 'दर्शनपरिषह'में किसी भी प्रकारसे रहते हैं, ऐसा यदि आपको लगता हो तो वह धैर्यसे वेदने योग्य है, ऐसा उपदेश है। आप प्रायः 'दर्शनपरिषह'में है, ऐसा हम जानते हैं।

किसी भी प्रकारकी आकुलताके बिना वैराग्यभावनासे, वीतरागभावसे, ज्ञानीमें परमभक्तिभावसे सत्शास्त्र आदिका और सत्संगका परिचय करना अभी तो योग्य है।

परमार्थसंबंधी मनमे किये हुए संकल्पके अनुसार किसी भी प्रकारकी इच्छा न करें, अर्थात् किसी भी प्रकारके दिव्यतेजयुक्त पदार्थ इत्यादि दिखायी देने आदिकी इच्छा, मनःकल्पित घ्यान आदि इन सब संकल्पोकी यथाशक्ति निवृत्ति करें।

'शांत सुधारस' में कही हुई भावना और 'अध्यात्मसार'में कहा हुआ आत्मनिश्चयाधिकार ये वारंवार मनन करने योग्य हैं, इन दोनांकी विशेषता मानें।

'आत्मा है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, 'आत्मा नित्य है' ऐसा जिस प्रमाणसे ज्ञात हो, 'आत्मा कर्ता

(पत्रका शेष अंश पृष्ठ-१६ पर)

द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से 'मिथ्या अभिप्राय का स्वरूप' सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चयन किये गये वचनामृत

(अभिप्राय की) ज़रा-सी भूल, वह भी पूरी भूल है। 'पर्याय' ध्यान करनेवाली है, और 'मैं' तो ध्यान की विषयभूत वस्तु हूँ; पर्याय 'मेरा' ध्यान करती है, 'मैं' ध्यान करनेवाला नहीं हूँ। 'मैं' ध्यान करुँ, इस बात में; और 'मैं' ध्यान करनेवाला नहीं, 'मैं तो ध्यान का विषय हूँ' - इस बात में ज़रा-सा फेर लगता है; परंतु है रात-दिन जितना बड़ा फेर। (एक में पर्यायदृष्टि रहती है जबकि दूसरे में द्रव्यदृष्टि होती है, इतना बड़ा फेर है।) २७९.

***

सुनने आदि के भाव ज्ञानी को, गणधर को भी आते हैं तो अपने को क्यों न आए ? (- ऐसी बातों के अवलंबन से अज्ञानी जीव) ऐसे-ऐसे पराश्रितभाव की पुष्टि करता है। २९९.

***

प्रश्न :- राग को ज्ञान का ज्ञेय तो बनाना है न ?

उत्तर :- राग को ज्ञान का ज्ञेय बनाने को जाते हैं, यह दृष्टि ही ग़लत है। खुद को ज्ञेय बनाया, तो राग उसमें (जुदा) जणीजता (जानने में आता) ही है; राग को ज्ञेय क्या बनाना ? ३२६.

***

(मुनि को) विकल्प-अंश क्षण-भर आता है तो कहते हैं कि 'आकाश आदि से भी गुरु महान् हैं, गुरु की महानता में तो आकाश राई के दाने के समान है' - ऐसा सुनकर (व्यवहार के पक्षवाला जीव) वह चौंट जाता है कि इतने महान् हैं तो मैं विनयादि बराबर करुँ, नहीं तो निश्चयाभासी हो जाऊँगा। परंतु भाई ! निश्चयगुरु तो अपना आत्मा है; - वह पड़ा रहा ! ४०५.

***

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (दिसम्बर-२०२२) का शुल्क श्रीमती मीताबहिन शैलेशभाई मुमुक्षु परिवार, बंबई की ओर से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

नवनिर्मित शशीप्रभु समाधिमंदिर 'ज्ञानमात्र' की कुछएक झलकियाँ दि: ०१-१२-२२